

THE ECONOMIC TIMES

Date: 02-01-19

Arm the Farming Sector

Abheek Barua, (The writer is chief economist, HDFC Bank.)



If good politics is — as it, perhaps, should be — about winning elections, it might be eminently sensible at this time for any party or coalition with an eye on the 2019 elections to ignore economists' familiar sermons on the perils of populism and get farmers on their side. However, what is perfectly kosher in election season need not be the smartest thing to turn into a regular practice. An income-support scheme for small farmers might not pose the kind of moral hazard than, say, a waived loan. But it is still a drag on the fisc that adds to the government's debt.

More effective procurement of crops at high prices by the government could put small farm profits in the black for a couple of years, especially crops like oilseeds and pulses (where apparently only 10% of the produce was procured at official prices this season), but breeds the risk of feeding an inflation spiral if it's tried over and over again.

The real long-term challenge is to make farming sustainable, enable the farmer to stand on his own feet, and not treat him as a 'special needs' case forever. A transformation of this kind needs both loads of what George H W Bush called the 'vision thing', and a clear understanding of why past visions for this sector have tuned blurry. One could argue that earlier blueprints for agriculture have been the victim of some flawed assumptions. First, an old-fashioned development policy that envisages clear stages that an economy must go through — from agriculture to brick-and-mortar industry to services. This, despite systematic evidence across economies that point to what economist Dani Rodrik calls 'premature de-industrialisation'.

That points to a quick peaking of manufacturing's share of GDP at levels well below those of the early industrialisers. If this is true of India (current data shows a 17% manufacturing share in GDP, down from a peak of 19% in 2007), the capacity of manufacturing to absorb labour from agriculture is also limited. This paradigm has had clear implications for policy. The thrust of policy has been to correct the imbalance between the share of agriculture in GDP (around 15% in nominal terms) and employment (about 40% in total employment) by trying to pull workers out of farms and into factory sheds. The alternative of raising agriculture's share in GDP and push per-capita farm incomes up in the process has been half-hearted. Food-processing, for instance, that should have been an engine of both income and productivity growth, contributes just 1.6% of its output.

The bet on manufacturing has gone wrong in another way. As NITI Aayog's Ramesh Chand, S K Srivastava and Jaspal Singh point out in a discussion paper that has provided critical inputs to NITI Aayog's new strategy report, the share of rural areas in output of manufacturing sector doubled between 1970-71 and 2011-12, and exceeded the manufacturing production in urban areas. Rural areas contributed 51.3% of

manufactured output in 2011-12. Yet, in this period, the share of manufacturing in rural employment rose from a meagre 5.3% to an equally meagre 8.6%.

Contrary to popular perception, manufacturing has not been entirely urban centric, and inadequate urbanisation has not deterred manufacturing growth. The problem quite clearly has been the capital intensity of manufacturing. While inflexible labour laws and lack of skilled workers are usually blamed for this, I wonder if these problems are somewhat exaggerated. The basic assumption that there is a portfolio of technologies in manufacturing with differing mixes of labour and capital might be a trifle optimistic.

Rising capital intensity seems to be integral to technological change. The NITI Aayog paper makes a case for changing both the product mix and the structure of firms in rural manufacturing — getting MSMEs to produce labour-intensive goods. But small firms suffer chronic problems of scale and, presumably, the mix of products that the manufacturing sector has chosen is in response to the market needs. Whether a government should determine which products to manufacture — or, indeed, how to produce them — is an open question.

Thus, it might be imperative to transform farming into a viable commercial activity or enterprise. (I may hasten to add that 'enterprise' neither means extensive corporatisation of farming nor aflood of genetically modified crops.) The gauge of success of the myriad programmes meant for farmers is how close it takes farmers to this final goal. 'Skilling' need not be a grand effort to get farmers ready for the manufacturing assembly line, but to implement better technologies for farming. The NITI Aayog strategy touches on some of this issue and seems to agree that 'Farming in India' needs to be an integral part of 'Make in India'.



Date: 02-01-19

दैनिक भास्कर

तीन तलाक के मुद्दे को आम चुनाव से सीधे न जोड़ें

संपादकीय



लोकसभा में तीन तलाक की प्रथा को दंडनीय बनाने वाला विधेयक 11 के मुकाबले 245 वोटों के प्रचंड बहुमत से पास होने के बाद राज्यसभा में फंस गया है। इस समय 244 सदस्यों की राज्यसभा में अन्नाद्रमुक को छोड़कर विपक्ष के पास कुल 115 सदस्य हैं। उधर एनडीए के घटक जनता दल (यू) के राज्यसभा में छह सदस्य भी इस मामले पर भाजपा से अलग राय रखते हैं। उन्होंने लोकसभा में मतदान से अपने को दूर रखा था और राज्यसभा में भी सरकार का साथ नहीं देंगे। उनका कहना है कि इस मामले पर पहले मुस्लिम समुदाय के भीतर बहस होनी चाहिए। विपक्ष की मांग है कि

विधेयक चयन समिति या प्रवर समिति के पास भेजा जाए क्योंकि यह गंभीर मामला है। दरअसल, भाजपा मुस्लिम समाज के भीतर सुधार का कदम उठाकर उसकी महिलाओं के एक तबके को अपना स्थायी मतदाता बनाना चाहती है। विपक्ष के लिए इन वोटों का टूटना नुकसानदेह हो सकता है।

भाजपा का यह कदम लंबे समय से चल रहे उसके समान नागरिक संहिता के एजेंडे के करीब बैठता है। जिस एजेंडे पर राजीव गांधी के कार्यकाल में शाहबानो के फैसले के बाद कांग्रेस लड़खड़ा गई थी उस पर भाजपा डटकर खड़ी होना चाहती है। विपक्षी दलों को इस कानून में असली आपत्ति इसे दंडनीय बनाए जाने से है। वे चाहते हैं कि सुप्रीम कोर्ट के फैसले के अनुकूल मुस्लिम समाज के उलेमा और संस्थाएं आगे बढ़कर यह प्रथा रुकवा दें। अच्छा हो कि मुस्लिम समाज स्वयं आगे बढ़कर अपने भीतर अन्य मुस्लिम देशों की तरह यह प्रथा समाप्त कर स्त्रियों को बराबरी का दर्जा और सम्मान दे। लेकिन कांग्रेस-भाजपा के बीच चल रही राजनीति वैसा करने का मौका नहीं देना चाहती। उन्हें न तो मुस्लिम समाज की महिलाओं की चिंता है और न ही देश भर की महिलाओं को संसद और विधानसभा में प्रतिनिधित्व देने की। उन्हें चिंता है वोट बैंक और उसके लिए भावनात्मक मुद्दे छेड़ने की। अगर कभी कांग्रेस ने शाहबानो के मामले में सुप्रीम कोर्ट के प्रगतिशील फैसले को पलटने का अपराध किया था तो आज भाजपा भी सबरीमाला में लगभग वही काम कर रही है। कांग्रेस को मुस्लिम वोटों की चिंता थी तो भाजपा को हिंदू वोटों की। राज्यसभा में यह विधेयक नए किस्म का राजनीतिक समीकरण तैयार कर रहा है। देखना है कि आगामी चुनाव में इस विधेयक के आधार पर कैसा धुवीकरण होता है।


दैनिक जागरण
Date: 02-01-19

2019 की बड़ी चुनौती आर्थिक विकास दर

डॉ. भरत झुनझुनवाला, (लेखक वरिष्ठ अर्थशास्त्री एवं आइआइएम बेंगलूर के पूर्व प्रोफेसर हैं)

हाल के दौर में देश की आर्थिक विकास दर विश्व के प्रमुख देशों में उच्चतम रही है, फिर भी यह सात प्रतिशत पर आकर ठहरी हुई है। हम अतीत में इससे भी ऊंची विकास दर हासिल कर चुके हैं और चीन ने 13 प्रतिशत की विकास दर कई वर्षों तक लगातार हासिल की थी। ऐसे में नए साल की एक बड़ी चुनौती विकास दर को बढ़ाने की है। विकास की मूल प्रक्रिया मांग से शुरू होती है। उपभोक्ता के हाथ में नकद होता है तो वह बाजार से पहनने के लिए कपड़े अथवा मकान बनाने के लिए सीमेंट खरीदता है। इससे बाजार में कपड़े और सीमेंट के दाम बढ़ते हैं। इन्हें बनाने वाली कंपनियों को लाभ अधिक होता है और वे निवेश की ओर उन्मुख होती हैं। निवेश से पुनः रोजगार के अवसर सृजित होते हैं। नई कंपनियों के कर्मियों द्वारा सीमेंट और कपड़े की मांग की जाती है। इस प्रकार खपत और निवेश का चक्र स्थापित हो जाता है। वर्तमान में इस चक्र पर जीएसटी ने दो प्रकार से प्रहार किया है।

पहला विषय छोटे उद्योगों का है। सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्योग मंत्रालय के अनुसार 2011- 12 में देश की आय में छोटे उद्योगों का हिस्सा 29.6 प्रतिशत था जो कि 2016 में घटकर 28.8 प्रतिशत रह गया है। हम मान सकते हैं कि

जीएसटी लागू होने के बाद इसमें और गिरावट आई है, क्योंकि तमाम वैश्विक अनुभव ऐसा बताते हैं। ऑस्ट्रेलिया की विक्टोरिया यूनिवर्सिटी द्वारा कराए गए अध्ययन में पाया गया कि छोटे उद्योगों द्वारा अपनी कुल आमदनी का तीन प्रतिशत हिस्सा जीएसटी के अनुपालन में खर्च किया जा रहा है। उद्योगों को सामान्यतः बिक्री का 15 प्रतिशत लाभ होता है। इसमें तीन प्रतिशत की गिरावट आई है।

ऑस्ट्रेलिया के छह में से पांच उद्यमों को जीएसटी से नुकसान हुआ। न्यूजीलैंड की वेलिंग्टन यूनिवर्सिटी ने पाया कि बड़े उद्यमियों की तुलना में छोटे उद्यमी अधिक जीएसटी अदा करते हैं। जीएसटी के अनुपालन के लिए कंप्यूटर और सॉफ्टवेयर खरीदना पड़ता है। छोटा उद्यमी 50 हजार का कंप्यूटर खरीदकर साल में दस लाख का माल बेचता है। बड़ा उद्यमी उसी 50 हजार का कंप्यूटर खरीदकर दस करोड़ का माल बेचता है। एक लाख की बिक्री पर छोटे उद्योग पर 10,000 रुपये का भार पड़ता है जबकि बड़े उद्योगों पर मात्र 100 रुपये। मलेशिया की मोनाश यूनिवर्सिटी के एक अध्ययन में पाया गया कि मलेशिया के छोटे उद्योगों पर मनोवैज्ञानिक लागत आ रही है। वे बंद होने की चिंता से जूझ रहे हैं। इन वैश्विक अनुभवों के आधार पर हम मान सकते हैं कि अपने देश में भी जीएसटी लागू होने के बाद छोटे उद्यमों की स्थिति बिगड़ी है। इसमें पहले ही जो संकुचन हो रहा था वह और तेज हो गया है। ध्यान रहे कि अपने देश में अधिकांश रोजगार इन्हीं छोटे उद्योगों द्वारा सृजित किए जाते हैं।

एक आंकड़े के अनुसार छोटे उद्योगों के जरिये तकरीबन 11.2 करोड़ रोजगार सृजित हुए हैं। वित्त मंत्रालय के अनुसार बड़े और संगठित निजी क्षेत्र के माध्यम से केवल 1.2 करोड़ रोजगार सृजित हुए। छोटे उद्योगों द्वारा बड़े उद्योगों की तुलना में दस गुना रोजगार सृजित हुए हैं। यानी जीएसटी का नतीजा यही निकल रहा है कि रोजगार के अवसर घट रहे हैं। रोजगार कम उत्पन्न होने से उपभोक्ता के हाथ में क्रय शक्ति स्वाभाविक रूप से कम हो जाती है। बाजार में मांग नहीं है। कंपनियां नए उपक्रम लगाने में रुचि नहीं ले रही हैं। इसलिए 2019 की चुनौती है कि छोटे उद्योगों को जीएसटी के दबाव से मुक्त कराया जाए। इसका एक उपाय यह है कि छोटे उद्योगों द्वारा कच्चे माल पर अदा किए गए जीएसटी का उन्हें नकद रिफंड दिया जाए जिससे उनकी उत्पादन लागत कम बनी रहे और वे बड़े उद्योगों के सामने टिके रहें।

दूसरा उपाय यह है कि छोटे उद्योगों द्वारा माल का भुगतान मिलने के समय जीएसटी अदा करना हो। ऐसा करने से छोटे उद्योगों पर दबाव कम होगा, रोजगार बढ़ेगा और मांग एवं निवेश का सिलसिला फिर से चल निकलेगा। परिणामस्वरूप हमारी आर्थिक विकास दर बढ़ेगी। सरकार विचार कर रही है कि जीएसटी की 12,18 एवं 28 प्रतिशत की दरों को मिलाकर एकल दर बना दी जाए। इससे जीएसटी के अनुपालन में कानूनी विवाद कम होंगे। उद्यमों के लिए जीएसटी का अनुपालन आसान हो जाएगा और अर्थव्यवस्था को गति मिलेगी। यह बात सही है, लेकिन एकल दर लागू होने से अमीर द्वारा खरीदी गई मर्सिडीज कार और गरीब द्वारा खरीदे गए दूध पर बराबर टैक्स वसूल किया जाएगा। इससे गरीब पर टैक्स का भार बढ़ेगा। न्यूजीलैंड सरकार के एक अध्ययन में कहा गया कि भिन्न-भिन्न दरों से गरीबों पर टैक्स का भार कम होता है।

नोबेल पुरस्कार विजेता प्रोफेसर जेम्स निर्लीज द्वारा किए गए एक अध्ययन में सामने आया कि एकल दर से गरीब पर टैक्स का भार बढ़ता है। ऑस्ट्रेलिया के शेरीदन कॉलेज द्वारा बोट्सवाना के लिए किए गए एक अध्ययन में भी इसकी पुष्टि हुई है, लेकिन इन तीनों अध्ययनों में यह भी कहा है कि एकल दर से अर्थव्यवस्था को गति मिलती है। इसलिए एकल दर लागू करने से गरीब पर जो भार बढ़ता है वह रकम उसे सीधे बैंक में भेज दी जानी चाहिए। ऐसा करने से गरीब के ऊपर टैक्स का जो भार बढ़ेगा उसकी भरपाई नकद हस्तांतरण से हो जाएगी। बाजार में मांग कम नहीं होगी।

साथ ही साथ एकल दर से अर्थव्यवस्था को गति भी मिलेगी यानी एकल दर लागू करने की शर्त यह है कि पहले गरीब को सीधे नकद ट्रांसफर की व्यवस्था की जाए।

एकल दर के कारण गरीब पर जीएसटी का भार पड़ने से हमारी विकास दर पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है। मान लीजिए एक रिक्शेवाले की जेब से एक हजार रुपये खो जाते हैं तो उसे अपनी खपत कम करनी होगी। उसकी कुल आय 10 हजार थी। उसमें एक हजार रुपये खोना अहमियत रखता है। इसकी तुलना में यदि रतन टाटा के एक हजार रुपये खो जाएं तो उनकी खपत में तनिक भी असर नहीं पड़ेगा, क्योंकि उनकी कुल आय करोड़ों में है। इसी प्रकार जीएसटी का भार गरीब पर पड़ने से गरीब की खपत में ज्यादा गिरावट आती है जबकि अमीर पर जीएसटी का भार कम होने से उसकी खपत में तनिक भी वृद्धि नहीं होती है। इसलिए जीएसटी की एकल दर का तार्किक परिणाम है कि गरीबों द्वारा मांग कम होती है और मांग और निवेश का चक्र टूटता है।

नए साल के आगमन पर हम दो परस्पर विरोधी उद्देश्यों के बीच में फंसे हुए हैं। एकल दर लागू करने से अर्थव्यवस्था में सक्षमता आती है और दूसरी तरफ एकल दर लागू करने से मांग में गिरावट आती है और अर्थव्यवस्था सुस्त पड़ती है। इसका भी उपाय यह है कि एकल दर लागू करने के साथ-साथ गरीब को सीधे कुछ रकम नकद ट्रांसफर कर दी जाए जैसा कि कुछ अंतरराष्ट्रीय अध्ययनों में कहा गया है। यदि नए साल में ऐसा कुछ किया जा सके तो बाजार में मांग कम नहीं होगी। तात्पर्य यह कि सरकार को जीएसटी की एकल दर लागू करने से पहले गरीब को सीधे नकद ट्रांसफर की व्यवस्था करनी चाहिए।

जनसत्ता

Date: 01-01-19

निगरानी की सीमा

संपादकीय

राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर किसी भी कंप्यूटर की निगरानी जैसे कठोर कदम से मचे बवाल के बाद इस बारे में सरकार ने जो स्पष्टीकरण दिए हैं, उनसे आशंकाओं के बादल छंटेंगे, ऐसी उम्मीद है। गृह मंत्रालय ने 20 दिसंबर को एक आदेश जारी कर देश की दस खुफिया और जांच एजेंसियों को यह अधिकार दिया था कि राष्ट्रीय सुरक्षा के मद्देनजर वे देशभर में किसी भी कंप्यूटर पर निगरानी रख सकती हैं, उसमें मौजूद जानकारी को देख सकती हैं और उसमें छिपी सूचनाओं को पढ़ सकती हैं। इस आदेश से पहला और दो-टुक संदेश यही गया कि सरकार अब देश के हर नागरिक की निगरानी करेगी, और जांच के नाम पर सुरक्षा और खुफिया एजेंसियां चाहे जिसका कंप्यूटर खंगाल सकेंगी। इसे सीधे-सीधे पुलिसिया राज का आगाज माना गया। और यह सही भी है कि अगर जांच एजेंसियों को ऐसे असीमित और दमनकारी अधिकार मिल जाएंगे तो वे कितनी निरंकुश हो जाएंगी, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। हालांकि सरकारें ऐसे कानूनों और शक्तियों का इस्तेमाल कैसे और किसके लिए करती हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। इसलिए सरकार के इस कदम पर देश में चिंता पैदा होना स्वाभाविक ही था।

लेकिन सरकार ने इस बारे में अब सफाई दी है, ताकि लोगों में बैठा खौफ दूर किया जा सके। पहली बात तो यही है कि जांच और खुफिया एजेंसियों को जिस भी कंप्यूटर को जांच के दायरे में लाना होगा उसके लिए पहले गृह मंत्रालय और संबंधित राज्य सरकारों से मंजूरी लेनी होगी। गृह मंत्रालय ने स्पष्ट रूप से कहा है कि किसी भी जांच या खुफिया एजेंसी को इस तरह की जांच के लिए कोई 'पूर्ण शक्ति' या 'विशेष अधिकार' नहीं दिए गए हैं और सभी जांच एजेंसियों को मौजूदा नियमों का ही पालन करना होगा। दरअसल, कंप्यूटर संबंधी जांच के लिए आइटी एक्ट- 2000 में पहले ही पर्याप्त प्रावधान हैं, जिनके मुताबिक ऐसी जांच के लिए पूर्व मंजूरी को अनिवार्य बनाया हुआ है। अब यह बताया जा रहा है कि इन सभी जांच और खुफिया एजेंसियों को इलेक्ट्रॉनिक संचार बीच में रोक कर जानकारी हासिल करने का अधिकार तो 2011 से ही मिला हुआ है।

गौरतलब है कि इस तरह की निगरानी के लिए कानून 2009 में बना था। जाहिर है, इसके लिए मुख्य आधार राष्ट्रीय सुरक्षा के घरों को मजबूत करना रहा होगा। अगर राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए ऐसे कठोर कानून बनते हैं और ईमानदारी से लागू होते हैं तो इसे स्वागतयोग्य कदम माना जाएगा। लेकिन बड़ा सवाल यह है कि जब कानून बन चुका था तो क्या अब तक जांच और खुफिया एजेंसियों को निहत्था रखा गया था? पिछले कई साल के दौरान तो देश ने कई बड़े आतंकी हमले झेले हैं और कई बार ऐसे हमलों को रोक पाने में सुरक्षा व खुफिया एजेंसियों के बीच तालमेल की कमी पाई गई। ग्यारह दिन पहले इस कानून के प्रावधानों को जिस तरह से लागू किया उससे तो साफ था कि हर नागरिक जांच के दायरे में है, किसी के भी कंप्यूटर की जांच हो सकती है। पहली नजर में तो यही लगा कि ऐसा करने के पीछे मकसद 'खास' लोगों को निशाना बनाना ही होगा। इसीलिए इस पर इतना हंगामा भी मचा। लेकिन सरकार ने जनता के गुस्से को भांप लिया और सख्त प्रावधानों से पीछे हटी है। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अगर ऐसा कानून काम करता है और कारगर होता है तो यह अच्छी बात है, लेकिन अगर यह दमन का हथियार बन जाए, जैसा कि अंदेशा रहा है, लोगों को पुलिसिया राज में जीने को मजबूर कर दे तो इसकी उपादेयता पर उंगलिया तो उठेंगी ही!
